श्रीमद् भागवत का यह सार
भगवद् भक्ति ही आधार

श्रीमद्भागवत रसिक कुटुंब

उद्धव गीता (11.13)

स्व धाम प्रस्थान को देखो हो रहे श्री कृष्ण तैयार।
उद्धृत किए उद्धव समक्ष अद्भुत अनमोल उद्गार।।

नारायणं(न्) नमस्कृत्य, नरं(ञ्) चैव नरोत्तमम्।
देवीं(म्) सरस्वतीं(वँ) व्यासं(न्), ततो जयमुदीरयेत्

नामसङ्कीर्तनं(यँ) यस्य, सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्, तं(न्) नमामि हरिं(म्) परम्

श्रीमद्भागवतमहापुराणम्
एकादशः स्कन्धः
॥अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥

श्रीभगवानुवाच
सत्त्वं(म्) रजस्तम इति, गुणा बुद्धेर्न चात्मनः ।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात्, सत्त्वं(म्) सत्त्वेन चैव हि ॥ 1॥

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- प्रिय उद्धव! सत्त्व, रज और तम-ये तीनों बुद्धि (प्रकृति) के गुण हैं, आत्मा के नहीं। सत्त्व के द्वारा रज और तम-इन दो गुणों पर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये। तदनन्तर सत्त्वगुण की शान्तवृत्ति के द्वारा उसकी दया आदि वृत्तियों को भी शान्त कर देना चाहिये।

सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात्, पुं(म्)सो मद्भक्तिलक्षणः ।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं(न्), ततो धर्मः(फ्) प्रवर्तते ॥ 2॥

जब सत्त्वगुण की वृद्धि होती है, तभी जीव को मेरे भक्तिरूप स्वधर्म की प्राप्ति होती है। निरन्तर सात्त्विक वस्तुओं का सेवन करने से सत्त्वगुण की वृद्धि होती है और तब मेरे भक्तिरूप स्वधर्म में प्रवृत्ति होने लगती है।

धर्मो रजस्तमो हन्यात्, सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः ।

आशु नश्यति तन्मूलो, ह्यधर्म उभये हते ॥ 3॥

जिस धर्म के पालन से सत्त्वगुण की वृद्धि हो, वही सबसे श्रेष्ठ है। वह धर्म रजोगुण और तमोगुण को नष्ट कर देता है। जब वे दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब उन्हीं के कारण होने वाला अधर्म भी शीघ्र ही मिट जाता है।

आगमोऽपः(फ्) प्रजा देशः(ख्), कालः(ख्) कर्म च जन्म च ।

ध्यानं(म्) मन्त्रोऽथ सं(म्)स्कारो, दशैते गुणहेतवः ॥ 4॥

शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार-ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुण की, राजसिक हों तो रजोगुण की और तामसिक हों तो तमोगुणी वृद्धि करती है।

तत्तत्सात्त्विकमेवैषां(यँ), यद् यद् वृद्धाः(फ्) प्रचक्षते ।

निन्दन्ति तामसं(न्) तत्तद्, राजसं(न्) तदुपेक्षितम् ॥ 5॥

इसमें से शास्त्रज्ञ महात्मा जिनकी प्रशंसा करते हैं, वे सात्त्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं, वे वस्तुएँ राजसिक हैं।

सात्त्विकान्येव सेवेत, पुमान् सत्त्वविवृद्धये ।

ततो धर्मस्ततो ज्ञानं(यँ), यावत् स्मृतिरपोहनम् ॥ 6॥

जब तक अपने आत्मा का साक्षात्कार तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर और उनके कारण तीनों गुणों की निवृत्ति न हो, तब तक मनुष्य को चाहिये कि सत्त्वगुण की वृद्धि के लिये सात्त्विक शास्त्र आदि का ही सेवन करे; क्योंकि उससे धर्म की वृद्धि होती है और धर्म की वृद्धि से अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मतत्त्व का ज्ञान होता है।

वेणुसङ्घर्षजो वह्निर्- दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम् ।

एवं(ङ्) गुणव्यत्ययजो, देहः(श्) शाम्यति तत्क्रियः ॥ 7॥

बाँसों की रगड़ से आग पैदा होती है और वह उनके सारे वन को जलाकर शान्त हो जाती है। वैसे ही यह शरीर गुणों के वैषम्य से उत्पन्न हुआ है। विचार द्वारा मन्थन करने पर इससे ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और वह समस्त शरीरों एवं गुणों को भस्म करके स्वयं भी शान्त हो जाती है।

उद्धव उवाच

विदन्ति मर्त्याः(फ्) प्रायेण, विषयान् पदमापदाम् ।

तथापि भुञ्जते कृष्ण, तत् कथं(म्) श्वखराजवत् ॥ 8॥

उद्धव जी ने पूछा-'भगवन्! प्रायः सभी मनुष्य इस बात को जानते हैं कि विषय विपत्तियों के घर हैं; फिर भी कुत्ते, गधे और बकरे के समान दुःख सहन करके भी उन्हीं को भोगते रहते हैं। इसका क्या कारण है?'।

श्रीभगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः(फ्), प्रमत्तस्य यथा हृदि ।

उत्सर्पति रजो घोरं(न्), ततो वैकारिकं(म्) मनः ॥ 9॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- प्रिय उद्धव! जीव जब अज्ञानवश अपने स्वरूप को भूलकर हृदय से सूक्ष्म-स्थूलादि शरीर में अहं बुद्धि कर बैठता है-जो कि सर्वथा भ्रम ही है-तब उसका सत्त्वप्रधान मन घोर रजोगुण की ओर झुक जाता है; उससे व्याप्त हो जाता है।

रजोयुक्तस्य मनसः(स्), सं(ङ्)कल्पः(स्) सविकल्पकः ।

ततः(ख्) कामो गुणध्यानाद्, दुःसहः(स्) स्याद्धि दुर्मतेः ॥10॥

बस, जहाँ मन में रजोगुण की प्रधानता हुई कि उसमें संकल्प-विकल्पों का ताँता बँध जाता है। अब वह विषयों का चिन्तन करने लगता है और अपनी दुर्बुद्धि के कारण काम के फंदे में फँस जाता है, जिससे फिर छुटकारा होना बहुत ही कठिन है।

करोति कामवशगः(ख्), कर्माण्यविजितेन्द्रियः ।

दुःखोदर्काणि सम्पश्यन्, रजोवेगविमोहितः ॥ 11॥

अब वह अज्ञानी कामवश अनेकों प्रकार के कर्म करने लगता है और इन्द्रियों के वश होकर, यह जानकार भी कि इन कर्मों का अन्तिम फल दुःख ही है, उन्हीं को करता है, उस समय वह रजोगुण के तीव्र वेग से अत्यन्त मोहित रहता है।

रजस्तमोभ्यां(यँ) यदपि, विद्वान् विक्षिप्तधीः(फ्) पुनः ।

अतन्द्रितो मनो युं(ञ्)जन्, दोषदृष्टिर्न सज्जते ॥ 12॥

यद्यपि विवेकी पुरुष का चित्त भी कभी-कभी रजोगुण और तमोगुण के वेग से विक्षिप्त होता है, तथापि उसकी विषयों में दोषदृष्टि बनी रहती है; इसलिये वह बड़ी सावधानी से अपने चित्त को एकाग्र करने की चेष्टा करता रहता है, जिससे उसकी विषयों में आसक्ति नहीं होती।

अप्रमत्तोऽनुयुं(ञ्)जीत, मनो मय्यर्पयञ्छनैः ।

अनिर्विण्णो यथाकालं(ञ्), जितश्वासो जितासनः ॥ 13॥

साधक को चाहिये कि आसन पर प्राण वायु पर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति और समय के अनुसार बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे मुझमें अपना मन लगावे और इस प्रकार अभ्यास करते समय अपनी असफलता देखकर तनिक भी ऊबे नहीं, बल्कि और भी उत्साह से उसी में जुड़ जाये।

एतावान् योग आदिष्टो, मच्छिष्यैः(स्) सनकादिभिः ।

सर्वतो मन आकृष्य, मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा ॥ 14॥

प्रिय उद्धव! मेरे शिष्य सनकादि परमर्षियों ने योग का यही स्वरूप बताया है कि साधक अपने मन को सब ओर से खींचकर विराट् आदि में नहीं, साक्षात् मुझ में ही पूर्णरूप से लगा दे।

उद्धव उवाच

यदा त्वं(म्) सनकादिभ्यो, येन रूपेण केशव ।

योगमादिष्टवानेतद्, रूपमिच्छामि वेदितुम् ॥ 15॥

उद्धव जी ने कहा- 'श्रीकृष्ण! आपने जिस समय जिस रूप से, सनकादि परमर्षियों को योग का आदेश दिया था, उस रूप को मैं जानना चाहता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य, मानसाः(स्) सनकादयः ।

पप्रच्छुः(फ्) पितरं(म्) सूक्ष्मां(यँ), योगस्यैकान्तिकीं(ङ्) गतिम् ॥ 16॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा- प्रिय उद्धव! सनकादि परमर्षि ब्रह्मा जी के मानस पुत्र हैं। उन्होंने एक बार अपने पिता से योग की सूक्ष्म अन्तिम सीमा के सम्बन्ध में इस प्रकार प्रश्न किया था।

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वाविशते चेतो, गुणाश्चेतसि चं प्रभो ।

कथमन्योन्यसं(न्)त्यागो, मुमुक्षोरतितितीर्षोः ॥ 17॥

सनकादि परमर्षियों ने पूछा- पिताजी! चित्त गुणों अर्थात् विषयों में घुसा ही रहता है और गुण भी चित्त की एक-एक वृत्ति में प्रविष्ट रहते ही हैं। अर्थात् चित्त और गुण आपस में मिले-जुले ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में जो पुरुष इस संसार सागर से पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनों को एक-दूसरे से अलग कैसे कर सकता है?

श्रीभगवानुवाच

एवं(म्) पृष्टो महादेवः(स्), स्वयं(म्)भूर्भूतभावनः ।

ध्यायमानः(फ्) प्रश्नबीजं(न्), नाभ्यपद्यत कर्मधीः ॥ 18॥

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- प्रिय उद्धव! यद्यपि ब्रह्मा जी सब देवताओं के शिरोमणि, स्वयम्भू और प्राणियों के जन्मदाता हैं। फिर भी सनकादि परमर्षियों के इस प्रकार पूछने पर ध्यान करके भी वे इस प्रश्न का मूल कारण न समझ सके; क्योंकि उनकी बुद्धि अपने ही कर्म द्वारा मोहित थी।

स मामचिन्तयद् देवः(फ्), प्रश्नपारतितीर्षया ।

तस्याहं(म्) हं(म्)सरूपेण, सकाशमगमं(न्) तदा ॥ 19॥

उद्धव! उस समय ब्रह्मा जी ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये भक्तिभाव से मेरा चिन्तन किया। तब मैं हंस का रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हुआ।

दृष्ट्वा मां(न्) त उपव्रज्य, कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।

ब्रह्माणमग्रतः(ख्) कृत्वा, पप्रच्छुः(ख्) को भवानिति ॥ 20॥

मुझे देखकर सनकादि ब्रह्मा जी को आगे करके मेरे पास आये और उन्होंने मेरे चरणों की वन्दना करके मुझसे पूछा कि 'आप कौन हैं ?

इत्यहं(म्) मुनिभिः(फ्) पृष्टस्- तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा ।

यदवोचमहं(न्) तेभ्यस्- तदुद्धव निबोध मे ॥ 21॥

प्रिय उद्धव! सनकादि परमार्थ तत्त्व के जिज्ञासु थे; इसलिये उनके पूछने पर उस समय मैंने जो कुछ कहा वह तुम मुझसे सुनो।

वस्तुनो यद्यनानात्व- मात्मनः(फ्) प्रश्न ईदृशः ।

कथं(ङ्) घटेत वो विप्रा, वक्तुर्वा मे क आश्रयः ॥ 22॥

हे ब्राह्मणो, यदि तुम लोग मुझसे पूछते हो कि मैं कौन हूँ, तो यदि तुम यह विश्वास करते हो कि मैं भी जीव हूँ और हम लोगों में कोई अन्तर नहीं है—क्योंकि अन्तत: सारे जीव एक हैं—तो फिर तुम लोगों का प्रश्न किस तरह सम्भव या उपयुक्त (युक्ति संगत) है? अन्तत: तुम्हारा और मेरा दोनों का असली आश्रय क्या है?

पं(ञ्)चात्मकेषु भूतेषु , समानेषु च वस्तुतः ।

को भवानिति वः(फ्) प्रश्नो, वाचारम्भो ह्यनर्थकः ॥ 23॥

देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शरीर पंच-भूतात्मक होने के कारण अभिन्न ही हैं और परमार्थ-रूप से भी अभिन्न हैं। ऐसी स्थिति में 'आप कौन हैं ? आप लोगों का यह प्रश्न ही केवल वाणी का व्यवहार है। विचारपूर्वक नहीं है, अतः निरर्थक है।

मनसा वचसा दृष्ट्या, गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।

अहमेव न मत्तोऽन्य- दिति बुध्यध्वमं(ञ्)जसा ॥ 24॥

मन से, वाणी से, दृष्टि से तथा अन्य इन्द्रियों से भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त आप लोग तत्त्व-विचार के द्वारा समझ लीजिये।

गुणेष्वाविशते चेतो, गुणाश्चेतसि चं प्रजाः ।

जीवस्य देह उभयं(ङ्), गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥ 25॥

पुत्रो! यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्त में प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य हैं, तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीव के देह हैं-उपाधि हैं। अर्थात् आत्मा का चित्त और विषय के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

गुणेषु चाविशच्चित्त- मभीक्ष्णं(ङ्) गुणसेवया ।

गुणाश्च चित्तप्रभवा, मद्रूप उभयं(न्) त्यजेत् ॥ 26॥

इसलिये बार-बार विषयों का सेवन करते रहने से जो चित्त विषयों में आसक्त हो गया है और विषय भी चित्त में प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनों को अपने वास्तविक से अभिन्न मुझ परमात्मा का साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये।

जाग्रत् स्वप्नः(स्) सुषुप्तं(ञ्) च, गुणतो बुद्धिवृत्तयः ।

तासां(वँ) विलक्षणो जीवः(स्), साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥ 27॥

जगना, सोना तथा गहरी नींद—ये बुद्धि के तीन कार्य है और प्रकृति के गुणों द्वारा उत्पन्न होते है। शरीर के भीतर का जीव इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न लक्षणों द्वारा सुनिश्चित होता है, अतएव वह उनका साक्षी बना रहता है।

यर्हि सं(म्)सृतिबंन्धोऽय- मात्मनो गुणवृत्तिदः ।

मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्, त्यागंस्तद् गुणचेतसाम् ॥ 28॥

क्योंकि बुद्धि-वृत्तियों के द्वारा होने वाला यह बन्धन ही आत्मा में त्रिगुणमयी वृत्तियों का दान करता है। इसिलये तीनों अवस्थाओं से विलक्षण और उनमें अनुगत मुझ तुरीय तत्त्व में स्थित होकर इस बुद्धि के बन्धन का परित्याग कर दे। तब विषय और चित्त दोनों का युगपत् त्याग हो जाता है।

अहं(ङ्)कारकृतं(म्) बंन्ध- मात्मनोऽर्थविपर्ययम् ।

विद्वान् निर्विद्य सं(म्)सार- चिंन्तां(न्) तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥ 29॥

जीव का अहंकार उसे बन्धन में डालता है और जीव जो चाहता है उसका सर्वथा विपरीत उसे देता है। अतएव बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि भौतिक जीवन भोगने की स्थायी चिन्ता को त्याग दे और भगवान् में स्थित रहे, जो भौतिक चेतना के कार्यों से परे है।

यावन्नानार्थधीः(फ्) पुं(म्)सो, न निवर्तेत युंक्तिभिः ।

जागर्त्यपिं स्वपन्नंज्ञः(स्), स्वंप्ने जागरणं(यँ) यथा ॥ 30॥

जब तक पुरुष की भिन्न-भिन्न पदार्थों में सत्यत्व बुद्धि, अहं बुद्धि और मम बुद्धि युक्तियों के द्वारा निवृत्त नहीं हो जाती, तब तक यह अज्ञानी यद्यपि जागता है तथापि सोता हुआ-सा रहता है-जैसे स्वप्नावस्था में जान पड़ता है कि मैं जाग रहा हूँ।

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां(म्), भावानां(न्) तंत्कृता भिदा ।

गतयो हेतवंश्चास्य, मृषा स्वंप्नदृशो यथा ॥ 31॥

उन जगत की अवस्थाओं का जिन्हें भगवान् से पृथक् सोचा जाता है, वास्तविक अस्तित्व नहीं होता, यद्यपि वे परब्रह्म से पृथकत्व की भावना उत्पन्न करती है। जिस तरह स्वप्न देखने वाला नाना प्रकार के कार्यों तथा फलों की कल्पना करता है उसी तरह भगवान् से पृथक् अस्तित्व की भावना से जीव झूठे ही सकाम कर्मों को भावी फल तथा गन्तव्य का कारण सोचता हुआ कर्म करता है।

यो जागरे बहिरनुंक्षणधर्मिणोऽर्थान्,

भुङ्क्ते समंस्तकरणैर्हृदि तंत्सदृक्षान् ।

स्वंप्ने सुषुंप्त उपसं(म्)हरते स एकः(स्),

स्मृंत्यंन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥ 32॥

जाग्रत रहने पर जीव अपनी सारी इन्द्रियों से भौतिक शरीर तथा मन के सारे क्षणिक गुणों का भोग करता है; स्वप्न के समय वह मन के भीतर ऐसे ही अनुभवों का आनन्द लेता है और प्रगाढ़ स्वप्नरहित निद्रा में ऐसे सारे अनुभव अज्ञान में मिल जाते है। जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति की सरणि को स्मरण करते तथा सोचते हुए, जीव यह समझ सकता है कि वह चेतना की तीनों अवस्थाओं में एक ही है और दिव्य है। इस तरह वह अपनी इन्द्रियों का स्वामी बन जाता है।

एवं(वँ) विमृंश्य गुणतो मनसस्त्र्यवंस्था,

मंन्मायया मयि कृता इति निंश्चितार्थाः ।

सं(ञ्)छिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-

ज्ञानासिना भजत माखिलसं(म्)शयाधिम् ॥ 33॥

तुम्हें विचार करना चाहिए कि किस तरह, प्रकृति के गुणों द्वारा उत्पन्न, मन की ये तीन अवस्थाएँ, मेरी मायाशक्ति के प्रभाव से, मुझमें कृत्रिम रूप से विद्यमान मानी गई है। तुम्हें आत्मा की सत्यता को सुनिश्चित कर लेने के बाद, तर्क तथा मुनियों एवं वैदिक ग्रंथों के आदेशों से प्राप्त, ज्ञानरूपी तेज तलवार से मिथ्या अभिमान को पूरी तरह काट डालना चाहिए क्योंकि यही समस्त संशयों को प्रश्रय देने वाला है। तब तुम सबों को, अपने हृदयों में स्थित, मेरी पूजा करनी चाहिए।

ईक्षेत विभ्रममिदं(म्) मनसो विलासं(न्),

दृष्टं(वँ) विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् ।

विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया,

स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥ 34॥

मनुष्य को देखना चाहिए कि यह भौतिक जगत मन में प्रकट होने वाला स्पष्ट भ्रम है, क्योंकि भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व अत्यन्त क्षणिक है और वे आज है, किन्तु कल नहीं रहेंगी। इनकी तुलना लुकाठ के घुमाने से बने लाल रंग के गोले से की जा सकती है। आत्मा स्वभाव से एक ही विशुद्ध चेतना के रूप में विद्यमान रहता है। किन्तु इस जगत में वह अनेक रूपों और अवस्थाओं में प्रकट होता है। प्रकृति के गुण आत्मा की चेतना को जाग्रत, सुप्त तथा सुषुप्त, इन तीन अवस्थाओं में बाँट देते है। किन्तु ये अनुभूति की ऐसी विविधताएँ, वस्तुत: माया है और इनका अस्तित्व स्वप्न की ही तरह होता है।

दृष्टिं(न्) ततः(फ्) प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-

स्तूष्णीं(म्) भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः ।

संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या,

त्यक्तं(म्) भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात् ॥ 35॥

भौतिक वस्तुओं के क्षणिक भ्रामक स्वभाव को समझ लेने के बाद और अपनी दृष्टि को भ्रम से हटा लेने पर, मनुष्य को निष्काम रहना चाहिए। आत्मा के सुख का अनुभव करते हुए, मनुष्य को भौतिक बोलचाल तथा कार्यकलाप त्याग देने चाहिए। यदि कभी वह भौतिक जगत को देखे तो उसे स्मरण करना चाहिए कि यह परम सत्य नहीं है, इसीलिए इसका परित्याग किया गया है। ऐसे निरन्तर स्मरण से मनुष्य अपनी मृत्यु पर्यन्त, पुन: भ्रम में नहीं पड़ेगा।

देहं(ञ्) च नश्वरमवस्थितमुत्थितं(वँ) वा,

सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम् ।

दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं(वँ),

वासो यथा परिकृतं(म्) मदिरामदान्धः ॥ 36।।

जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा पहना हुआ वस्त्र शरीर पर है या गिर गया, वैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीर से उसने अपने स्वरूप का साक्षात्कार किया है, वह प्रराब्धवश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया या आया है-नश्वर शरीर सम्बन्धी इन बातों पर दृष्टि नहीं डालता।

देहोऽपि दैववशगः(ख्) खलु कर्म यावत्,

स्वारम्भकं(म्) प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।

तं(म्) सं प्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः(स्),

स्वाप्नं(म्) पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ 37॥

भौतिक शरीर निश्चय ही विधाता के वश में रहता है, अत: यह शरीर तब तक इन्द्रियों तथा प्राण के साथ जीवित रहता है जब तक उसका कर्म प्रभावशाली रहता है। किन्तु स्वरूपसिद्ध आत्मा, जो परम सत्य के प्रति प्रबुद्ध हो चुका है और जो योग की पूर्ण अवस्था में उच्चारूढ है, कभी भी शरीर तथा उसकी अनेक अभिव्यक्तियों के समक्ष नतमस्तक नहीं होगा क्योंकि वह इसे स्वप्न में देखे गये शरीर के समान जानता है।

मयैतदुक्तं(वँ) वो विप्रा, गुह्यं(यँ) यत् सां(ङ्)ख्ययोगयोः ।

जानीत माऽऽगतं(यँ) यज्ञं(यँ), युष्मद्धर्मविवक्षया ॥ 38॥

सनकादि ऋषियों! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सांख्य और योग दोनों का गोपनीय रहस्य है। मैं स्वयं भगवान हूँ, तुम लोगों को तत्त्वज्ञान का उपदेश करने के लिये ही यहाँ आया हूँ, ऐसा समझो।

अहं(यँ) योगस्य सां(ङ्)ख्यस्य, सत्यस्यर्तस्य तेजसः ।

परायणं(न्) द्विजश्रेष्ठाः(श्), श्रियः(ख्) कीर्तेर्दमस्य च ॥ 39॥

विप्रवरो! मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत (मधुर भाषण), तेज, श्री, कीर्ति और दम (इन्द्रियनिग्रह) इन सबका परम गति-परम अधिष्ठान हूँ।

मां(म्) भजन्ति गुणाः(स्) सर्वे, निर्गुणं(न्) निरपेक्षकम् ।

सुहृदं(म्) प्रियमात्मानं(म्), साम्यासं(ङ्)गादयोगुणाः ॥ 40॥

ऐसे सारे के सारे उत्तम दिव्य गुण—जैसे कि गुणों से परे होना, विरक्त, शुभचिन्तक, अत्यन्त प्रिय, परमात्मा, सर्वत्र समरूप से स्थित तथा भौतिक बन्धन से मुक्त होना—जो कि गुणों के विकारों से मुक्त है, मुझमें शरण तथा पूजनीय वस्तु पाते है।

इति मे छिन्नसन्देहा, मुनयः(स्) सनकादयः ।

सभाजयित्वा परया, भक्त्यागृणत सं(म्)स्तवैः ॥ 41॥

प्रिय उद्धव! इस प्रकार मैंने सनकादि मुनियों के संशय मिटा दिये। उन्होंने परम भक्ति से मेरी पूजा की और स्तुतियों द्वारा मेरी महिमा का गान किया।

तैरहं(म्) पूजितः(स्) सम्यक्, सं(म्)स्तुतः(फ्) परमर्षिभिः ।

प्रत्येयाय स्वकं(न्) धाम, पश्यतः(फ्) परमेष्ठिनः ॥ 42॥

जब उन परमर्षियों ने भलीभाँति मेरी पूजा और स्तुति कर ली, तब मैं ब्रह्मा जी के सामने ही अदृश्य होकर अपने धाम में लौट आया।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहं(म्)स्यां(म्)
सं(म्)हितायां एकादशस्कन्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ 13॥

ॐ पूर्णमदः(फ्) पूर्णमिदं(म्)पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः(श्)शान्तिः(श्)शान्तिः ॥